मध्यकाल में शिक्षा की स्थिति : एक अध्ययन

प्रीति सिंह

भारतीय समाज अपने जीवन में शिक्षा के महत्व के प्रति सचेष्ट रहा है। मध्यकाल में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध पवित्र, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक थे। गुरु छात्रों के लिए पितातुल्य थे और छात्रों को गुरु पुश्चत् स्नेह देते थे। जब कोई छात्र गुरु के पास रहकर पढ़ने आता था तो गुरु उसे अपने परिवार के सदस्य के रूप में देखते थे न कि शिष्य के रूप में। गुरु अपना काम बड़ी लगन और निष्ठा से करते थे। इनका यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह न केवल शिष्य को ज्ञान दें वरन् वे समस्त गुण छात्रों के व्यक्तित्व में पैदा करें जो सफल जीवन जीने के लिए आवश्यक होते हैं। सदाचार और शिष्टाचार के साथ मानवीय मूल्यों की शिक्षा देना भी गुरु का कर्तव्य था। संक्षेप में छात्र का सर्वांगीण विकास करना गुरु का दायित्व था, जिससे छात्र समाज का एक उपयोगी अंग चन सकें। छात्र गुरु की छत्र–छाया में रहकर विद्याध्ययन के साथ अपने व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करते थे।

मुसलमानों के आगमन के समय तक भारत ज्ञान–विज्ञान में चरमोत्कर्ष पर था और भारत की प्रसिद्धि जगत् प्रसिद्ध थी। इसीलिए विभिन्न देशों के ज्ञान पिपासु ज्ञान की क्षुधा शांत करने भारत आते थे तथा परितृप्त होकर पुनः अपने देश को जाते थे। मध्यकाल में मुसलमान शासकों द्वारा यहाँ के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों यथा तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला नष्ट कर दिये थे, फिर भी हिन्दू शिक्षा की सुखदायिनी और पापनाशिनी सरिता अविरल गति से बहती रही। हिन्दूओं का सामाजिक संगठन ऐसा था कि प्रयत्न करने पर भी मुसलमान प्राचीन भारतीय संस्कृति और शिक्षा व्यवस्था को पूर्णतः नष्ट नहीं कर सके। राजनीतिक परिवर्तन अधिकतर बड़े–बड़े नगरों तक ही सीमित रहे, जिससे हिन्दूओं की विकसित और विशिष्ट शिक्षा प्रणाली की धारा सुदूर ग्रामों में बहती रही और गुरुओं के आश्रम निर्जन वनों तथा गाँवों में सुचारू रूप से चलते रहे। विप्लव तथा अशांति के युग में भी हिन्दूओं में विशाल तथा उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया और अपनी विशेष शिक्षा पद्धति को भी बनाये रखा।

मुगल शासक की स्थापना और विशेष कर अकबर के सिंहासनारोहण के साथ हिन्दू शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। प्रथम दो मुगल सम्राट बाबर और हुमायूं अपने राज्य की स्थापना और उसे व्यवस्थित करने में इतने व्यस्त रहे कि शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। कुशाग्र बुद्धि और दूरदर्शी अकबर ने पहली बार यह अनुभव किया कि भारत में मुगल साम्राज्य तभी स्थायी बन सकता है, जब बहुसंख्यक हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त किया जाय। हिन्दुओं के प्रति बादशाह की इस सोच से हिन्दू शिक्षा के प्रसार मे पर्याप्त सहयोग मिला। अकबरकालीन दरबारी इतिहासकार अबुफजल भी यह स्वीकार करता है कि हिन्दू शिक्षा और संस्कृति को प्रोत्साहित करने के पीछे अकबर का राजनीतिक उद्देश्य था। अकबर ने एक अनुवाद विभाग की स्थापना की, जहाँ हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सहयो से कुछ विशिष्ट हिन्दू ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। इससे न केवलं मुसलमानो को हिन्दू संस्कृति को जानने का अवसर मिला वरन् हिन्दू और मुसलमान एक

• **शोधार्थी, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया**

दूसरे के समीप आये। अकबर ने उदारता से विद्वानों को आश्रय दिया जिससे मुगल दरबार में हिन्दू विद्वानों को भी सम्मान मिला।

हिन्दू–मुस्लिम शिक्षा और ज्ञान के प्रति अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई नीति का अनुसरण उसके पुत्र और पौत्र के समय भी होता रहा। जहांगीर और शाहजहां के समय हिन्दू विद्वानों को मुगल दरबार में आश्रय मिला, हिन्दू शिक्षण संस्थाएँ, अनुदान प्राप्त करती रही और हिन्दू ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद होता रहा। इस दृष्टि से शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह के प्रयास निश्चय ही प्रसंशनीय हैं। वह भी अकबर की तरह हिन्दूओं और मुसलमानों को नजदीक लाना चाहता था। उसके प्रयासों से उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया गया और बनारस में संस्कृत को 12 वर्ष तक दारा का संरक्षण मिलता रहा। किन्तु इस उदारतापूर्ण नीति को औरंगजेब के समय बड़ा आघात लगा। यद्यपि वह एक सुसंस्कृत और उच्च कोटि का शिक्षित था, किन्तु उसने हिन्दू शिक्षा के प्रति सौतेला व्यवहार किया, जिससे हिन्दू शिक्षा की उन्नति में अवरोध पैदा हो गया। फिर भी औरंगजेब हिन्दू विद्वानों को आश्रय देने की मुगल परम्परा को पूर्णतया नहीं त्याग सका और उसके दरबार में हिन्दू विद्वान और कवियों को सरक्षण मिलता रहा।

मुगलकाल में हिन्दू–मुस्लिम शिक्षा की मुख्यतया तीन प्रकार की शिक्षण संस्थाएँ थी पाठशालाएं, विद्यालय और गुरुशालाएं। पाठशालाओं को चटशाला या चट्टशाली भी कहा जाता था। ये प्रारम्भिक या प्राथमिक शिक्षा की केन्द्र थी, जहां छोटी वय के बालक और बालिकाओं को शिक्षा प्रदान की जाती थी, इनका स्वरूप वर्तमान के प्राथमिक विद्यालयों के समान था। विद्यालय उच्च शिक्षा के केन्द्र थे, जहाँ विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यालयों को टोल भी कहा जाता था। टोल आधुनिक युग के कॉलेज की भांति थे। 17 वीं सदी में मेण्डस्लो लिखता है कि ब्राह्मणों ने विद्यालय स्थापित कर रखे थे, जहाँ वे अपने बच्चों को पढ़ाना और लिखाना सिखाते थे। उपर्युक्त दो प्रकार की शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त गुरुशालाएं भी थी, जहाँ निजी शिक्षक छात्रों को कला और विज्ञान के विभिन्न विषयो के शिक्षा प्रदान करते थे। उस समय इस प्रकार की गुरुशालाओं की संख्या भी कम नहीं थी। इन शिक्षण केन्द्रों के साथ शैक्षिक एवं बौद्धिक वाद–विवाद, विचार–विमर्श, नाटक, भजन, कीर्तन, गोष्ठियाँ, पुस्तकालय और आकादमी शिक्षा की एक सशक्त माध्यम थी। इनका आयोजन समय–समय पर होता रहता था, जिससे ये ग्रामीण जीवन और हिन्दू समाज का एक अभिन्न अंग बन गई थी। मुगलकाल में कुछ मिश्रित विद्यालय भी थे। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि मुसलमान छात्र गणित, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष और नक्षत्र शास्त्र का अध्ययन हिन्दूओं के विद्यालय में करते थे और जब से फारसी राजकीय भाषा बनी तब से हिन्दूओं ने भी मुसलमानों की शिक्षण संस्थाओं में फारसी पढ़ने के लिए प्रवेश लेना प्रारम्भ कर दिया।

डॉ० पी०एन० चोपड़ा ने विषयों के अध्यापन की दृष्टि से हिन्दू विद्यालयों के तीन प्रकार बतलाये हैं। प्रथम में विद्यालय जहाँ व्याकरण, पद्य (कविता) और स्मृति विषय पढ़ाये जाते थे, द्वितीय जहाँ विधि और पुराण का अध्यापन होता था और तृतीय प्रकार के वे विद्यालय हैं जहाँ छात्र न्यायदर्शन या तर्कशास्त्र पढ़ते थे। यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिकतर विद्यालय ऐसे थे, जहाँ लगभग सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वैसे बच्चे को पाठशाला भेजने की आयु निश्चित नहीं थी, किन्तु हिन्दू साधारणतया अपने बच्चों को पांच वर्ष की आयु में विद्यारम्भ कराते थे, किन्तु छः या सात वर्ष की आयु में विद्यारम्भ के उदाहरण भी मिलते हैं। गुरुनानक को सात

वर्ष की आयु में विद्यालय भेजा गया था। भारतीय संस्कृति के सोलह संस्कारों में उपनयन संस्कार का विशिष्ट महत्व होता है। तुजुक–ए–जहांगिरी से जानकारी मिलती है कि बच्चे के आठ वर्ष का होने पर ब्राह्मण एकत्रित होते हैं। वे मंजू घास की सवा दो गज लम्बी रस्सी, जिसे वे मुंजी कहते हैं, बनाते हैं। इस रस्सी की तीन लड़ियाँ तैयार करते, जिसे वे सिंहतन के नाम से सम्बोधित करते हैं, और उसे बालक की कर पर बांधते हैं। ढ़ीले धागों से तीन लड़िया

में चुनी हुई जनेऊ को दाहिने कथे पर लटकाते हैं। (भूलवश जहांगीर ने बायें कन्धे की बजाय दाहिनां लिख दिय है)। उसके हाथ में एक गज की लकड़ी नुकसान देने वाली चीजों से अपनी रक्षा करने हेतु देने के बाद उसे ताबें का एक बर्तन पानी पीने के लिए दिया जाता है। उस एक ब्राह्मण शिक्षक को सौंपते हैं, जिसके मकान में यह बरह वर्ष तक रहकर वेदों का जिसे वह भगवान की पुस्तक मानते हैं, अध्ययन करता है। बच्चों का पाठशाला में प्रवेश लेना उसके जीवन को एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती थी। शुभ दिन को अच्छे मुहूर्त में बच्चा गुरु के पास बैठकर ओम हरि या श्री लिखता था। शुभ दिन इसी के साथ उसकी शिक्षा का आरम्भ हो जाता था। विद्यारमभ संस्कार बड़े हर्ष के साथ मानता था।

मध्यकाल में आधुनिक युग की भांति शिक्षकों के प्रशिक्षण को कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु परोक्ष रूप से छात्र अध्ययन काल में ही अध्यापन का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते थे। गुरु अपने वरिष्ठ छात्र सहायक अध्यापक के रूप में कार्य करते थे। इस व्यवस्था से एक तो गुरु को अध्यापन कार्य में सहायता प्राप्त हो जाती थी तथा दूसरे शिष्य अध्यापन का अनुभव भी अर्जित कर लेते थे। विद्यालय या टोल उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। हिन्दू शिक्षा के इन केन्द्रों पर शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी तथा स्नातक स्तर की शिक्षा प्राप्त करने के लिए 10 से 12 वर्ष तक अध्ययन करना पड़ता था यदि कोई किसी विषय में विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त करना चाहता था, तो उसे उफा अवधि के पश्चात् तीन–चार वर्ष तक और अध्ययन करना पड़ता था। वामन पण्डित जो की सता का निवासी था 18 वर्ष की आयु में बनारस अध्ययन के लिए गया था और 12 वर्ष तक वहाँ रहा। 17 वीं शताब्दी की आयु तक बनारस में अध्ययन किया था। एक गुरु के पास लगभग 15 छात्र अध्ययन करते थे। जो शिक्षा प्राप्त करने के लिए नैतिक दृष्टि और बौद्धिक दृष्टि से अयोग्य होते थे, उन्हें विद्यालय में प्रवेश नहीं दिया जाता था। देश के दूरस्थ स्थानों से छात्र और अध्यापक अध्ययन अध्यापन के लिए इन केन्द्रों पर आते थे। उच्च शिक्षा ग्रहण करने बाले छात्रों को चार मुख्य शास्त्रों व्याकरण, विधि, पुराण और दर्शन का अध्यापन कराया जाता था।

अनुफजल के अनुसार संस्कृत के उच्च शिक्षा केन्द्रों पर व्याकरण न्याय, वेदांत और पार्टवल (योगशास्त्र) साओं को पढ़ाये जाते थे। अबुफजल लिखता है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए वर्तमान काल की आवश्यक वस्तुओं का अध्ययन अनिवार्य समझा गया। इन अधिनियमों से विद्यालयों को नवीन प्रकाश प्राप्त हुआ और विद्या तथा विज्ञान की उन्नति हुई। अकबर ने एक फरमान, जिसका उल्लेख बदायूनी ने किया है, से ज्ञात होता है कि चादशाह ने गणित, नक्षत्रशास्त्र, खगोलशास्त्र और चिकित्साशास्त्र के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहित किया था। अतः यह बहुत संभव है कि उक्त चार विषय भी हिन्दू उच्च शिक्षा केन्द्रों पर पढ़ाये जाते थे।

''मुकुन्दराम के सुप्रसिद्ध काव्य'', ''कविकंकण चंडी'' में मुगल युग के हिन्दू विद्या केन्द्रों में पढ़ाये जाने वाले विषयों और ग्रन्थों का विस्तृत विवरण है। ये विषय हैं शास्त्र, न्याय, रक्षित पंजिका टीका और अमरसिंह कृत अमरकोष, दण्डी के ग्रन्थ जैसे दशकुमारचरितम् और काव्यादर्श भी पढ़ाये जाते थे। छंदसूत्र नामक पिंगल भी अध्ययन का एक प्रमुख विषय था। इसके सिवाय जैमिनी भारतमित्र, के मेघदूत, कुमारसंभव आदि भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे।

बर्नियर के अनुसार संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य, वेद, पुराण, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, नक्षत्रशास्त्र, खगोलशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि विषय पढ़ाये जाते थे। अच्युतानंद दास के अनुसार उड़ीसा में उच्च शिक्षा में व्याकरण, ज्योतिष, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, धनुर्विद्या, युद्धविद्या, राजनीति, प्रशासन, दण्डनीति, अलंकार, तंत्र और मंत्र आदि विषय पढ़ाये जाते थे। अंत में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम में संस्कृत भाषा और साहित्य, व्याकरण, वेद, पुराण, आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नक्षत्रशास्त्र, खगोलशास्त्र, भूगोल, इतिहास और राजनीतिशास्त्र सम्मिलित थे। इनके साथ ही क्षेत्रीय भाषाएँ यथा– पाली, प्राकृत, हिन्दी, बंगाली, उड़िया आदि भी हिन्दू उच्च शिक्षा केन्द्रों पर पढ़ाई जाती थी।

मुगलकाल में वर्तमान समय की भांति त्रैमासिक, अद्धवार्षिक, या वार्षिक परीक्षाएँ और नियमित सामयिक जांच नहीं होती थी। अध्यापक छात्र की योग्यता के आधार पर अगली कक्षा में चढ़ा देते थे। अतः 6 माह के बाद ही किसी छात्र का अगली कक्षा में चला जाना कोई आशचर्य की बात नहीं थी। उच्च शिक्षा प्राप्त छात्रों की योग्यता परखने के लिए उस समय अलग–अलग स्थानों पर विभिन्न तरीके थे और यह गुरु पर निर्भर था कि वह कौन सी पद्धति काम में लाता है। छात्रों की योग्यता परखना ही उनकी परीक्षा थी। छात्र की योग्यता परखने के निम्न तरीके उस समय प्रचलित थे।

महामहोपाध्याय जगन्नाथ झा ने अपने ग्रन्थ ''कविरहस्य '' में मध्यकाल में प्रचलित छात्र के मूल्यांकन की एक पद्धति का उल्लेख किया है। इस पद्धति के अनुसार जब कोई विद्वान विदेश में प्रसिद्धि और सम्मान–स्वरूप पारितोषिक प्राप्त कर स्वयं के देश में लौटता था और यदि वो अपने आपको सक्षम समझता था तो वह लोगों को कहता कि उस सम्मान और प्रसिद्धि का क्या लाभ, जिसे विदेश में प्राप्त किया गया है। क्योंकि उस सम्मान को न तो दुश्मन देख सकें और न ही जिसे देखकर मित्र प्रसन्न हो सके हैं। अतः मेरी अभिलाषा है कि मैं अपने देश में प्रसिद्धि प्राप्त करूं। इसलिये मेरी योग्यता का मूल्यांकन किया जाय। योग्यता की जांच की इस पद्धति के अनुसार पहले देश के विद्वान विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित जटिल प्रश्न उससे पूछते थे। विद्वानों की सभा में छात्र द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर से उपस्थित विद्वानों का सन्तुष्ट हो जाना आवश्यक था। जब विद्वान संतुष्ट हो जाते थे तो उपस्थित अन्य लोग प्रश्न करते थे, जिसका संतोषप्रद उत्तर कोई भी दे सकता था। सभा में उपस्थित सभी लोग पूर्णतया संतुष्ट हो जाते थे तो विदेश से सम्मान प्राप्त कर आये छात्र को ''सारयंत्री'' की उपाधि से विभूषित किया जाता था। उस समय विद्वानों को, उपाध्याय, महोपाध्याय, महामहोपाध्याय, पीयूषवर्ष पक्षधर, अकबरियाकालिदास, सार्वभौम आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था। संस्कृत के पण्डित जयदेव ने शास्त्रों तथा सूत्रों का गहन अध्ययन किया था। श्रीहरि जिसने अकबर के दरबार में गौरव प्राप्त किया था,

अकबरिया कालिदास की उपाधि से सम्मानित हुआ था। इसी प्रकार नदिया के प्रख्यात विद्वान वासुदेव को सार्वभौम की उपाधि प्रदान की गई थी। उस समय अधिकतर विद्वानों को उपाध्याय, महोपाध्याय और महामहोपाध्याय की उपाधियों से अलंकृत किया जाता था। उपाधि या सम्मान प्राप्त करने के लिये छात्र को पण्डितों के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। पण्डित, छात्र से शास्त्रार्थ और प्रश्नों के माध्यम से उसकी योग्यता और उसके ज्ञान के विस्तार तथा गहराई का मूल्यांकन कर लेते थे। यदि पण्डित, छात्र की योग्यता तथा उसके द्वारा दिए गये प्रश्नों के उत्तर से संतुष्ट हो जाते थे तो छात्र सफल मान लिया जाता था तथा उसे उपाध्याय की उपाधि प्रदान कर दी जाती थी। उपाधि प्राप्त करने के साथ ही उसे अन्य छात्रों को पढ़ाने का अधिकार भी मिल जाता था। यदि कोई छात्र उपाध्याय की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था, तो उसके गुरु को महोपाध्याय की उपाधि प्राप्त हो जाती थी। इसी प्रकार जब महोपाध्याय के शिष्य का शिष्य उपाध्याय की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था तो गुरु स्वतः महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित हो जाता था।

रामभद्र जो कि व्याकरणाचार्य था, अपने मित्रों में पतंजलि के नाम से प्रसिद्ध था। रघुनाथ ने वेदांत का अध्ययन किया था। मध्यकाल में बंगाल में विदूत मण्डली को उपाधियाँ देने का अधिकार था। गदाधर और जगदीश जिन्होंने विशेष योग्यता अर्जित की थी, विद्वानों द्वारा ''तर्कचक्रवर्ती'' और ''तर्कालंकार'' की उपाधियों से अलंकृत किये गये थे। उस समय सैनिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। शिक्षा की समाप्ति पर ''छुरिका बन्धाई'' का उत्सव आयोजित किया जाता था। यह समारोह आधुनिक काल के दीक्षांत समारोह के समान था। छात्र की कमर में कटार बांधी जाती थी, जो उसके स्नातक होने का प्रमाण था। अध्ययन की समाप्ति हो जाने पर छात्र अपने–अपने निवास स्थान को लौट जाते थे। इस अवसर पर एक उत्सव आयोजित किया जाता था, जिसे समावर्तन कहते थे और यह समावर्तन उत्सव दीक्षांत समारोह के सदृश था। बड़े हर्ष और उल्लास तथा स्नेहिल वातावरण में यह समारोह सम्पन्न होता था।

इस प्रकार मध्यकाल में अद्‌भुत तरीके से छात्र की योग्यता का अंकन किया जाता था। किसी प्रतिष्ठित विद्यालय या प्रख्यात विद्वान के पास अध्ययन करना भी अपने आप में एक विशेष योग्यता मानी जाती थी। प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों के पण्डितों का एक छोटा समूह, छात्र का मूल्यांकन करने के लिये सक्षम होता था। किसी विषय विशेष या ज्ञान की किसी विशेष शाखा में सफल होने के लिये विद्वानों की सभा में शास्त्रार्थ में भाग लेना आवश्यक था, जहाँ प्रत्येक छात्र की योग्यता मालूम हो जाती थी। इस बौद्धिक युद्ध में छात्र अपनी योग्यता और ज्ञान का उत्कृष्ट तरीके से प्रदर्शन करते थे। छात्र को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण करने में गुरु की सम्मति सर्वाधिक महत्व रखती थी।

आधुनिक काल की भांति मध्यकाल में उपाधि प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं था, वरन् छात्र को निरन्तर अध्ययन से अपने ज्ञान को सदैव तरोताजा रखना पड़ता था, क्योंकि शास्त्रार्थ के लिये उसे कभी भी आमंत्रित किया जा सकता था। वह शास्त्रार्थ के लिये यह नहीं कह सकता था कि मैं अपनी पुस्तकें या कक्षा टिप्पणी का अवलोकन कर लूं। अतः छात्र ने जो भी ज्ञान अर्जित किया है, उसे सदा अपनी जिह्वा की नोंक पर रखना आवश्यक था, अन्यथा वह अपयश का पात्र बनता था।

संदर्भ :

1. अ. डॉ. ए .एल. श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 99.

2. आ. जे. एन. सरकार, स्टडीज इन मुगल इण्डिया, पृ. 299.

3. अ. डॉ. आर. के. मुखर्जी, एनसिएण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ. 599.

4. डॉ. बी. के. सहाय, पृ. 63.

5. डॉ. पी. एन. चौपड़ा, पृ. 151.

6. डॉ. ए. एस. अल्टेकर, पृ. 157.

7. बर्नियर, ट्रेवल्स पृ. 334.